

पं. दवे जी के खण्डकाव्यों का सांस्कृतिक अवदान

अवधेश कुमार मिश्र

व्याख्याता, साहित्य

राजकीय विद्वलनाथ सदाशिव पाठक आचार्य

संस्कृत महाविद्यालय, कोटा (राज.)

शोध सारांश –

प्राचीन संस्कृति के महान विचारक एवं युगीन संवेदनाओं के प्रबोधक कवियों का उद्देश्य अपने काव्य के माध्यम से भावी पीढ़ियों में सांस्कृतिक अलख जगाना होता है। उनके साहित्य की सार्थकता यथार्थ जीवन से जुड़ी होती है। उनका काव्य तथ्यों का संग्रहण किंवा बुद्धि का विलास मात्र नहीं होता है। उसका मूल तो उसके आस-पास विद्यमान जगत् में होता है। वर्तमान को छूने से ही उसका काव्य शाश्वत और त्रिकाल अबाधित होता है। उनका काव्य दरबारी न होकर मानवीय होता है।

पं.श्रीराम दवे की साहित्य साधना इस सन्दर्भ में महीयसी है। उन्होंने वर्तमान कालिक व्यवस्थाओं तथा पाश्चात्य शिक्षा संस्कृति से प्रभावित तथाकथित आधुनिकों का संवेदना हीन, यथार्थ तथ्यों को काव्य में ऊकेरा है। वन्दनीयों की वन्दना वारांगना सदृश नृपनीति एवं क्लब संस्कृति की भर्त्सना द्वारा सांस्कृतिक सुदृढीकरण का एक स्रोत दिया है। अतः पं. दवे के खण्डकाव्यों की सांस्कृतिक अवदान की समीक्षा उनके कवित्व की सार्थकता को सिद्ध करेगा।

ध्यातव्य है कि कवि दवे धर्म कर्म निष्ठ भगवती भक्त, सनातन संस्कृति के शत-प्रतिशत समर्थक कवि थे। आजीविका बैंक मेनेजर की थी, अंग्रेजों का शासन तथा भारत पाकिस्तान विभाजन की विभीषिका के प्रत्यक्ष द्रष्टा थे, तथा उन्हें विदेशी साहित्यों का भी गहन अध्ययन था। एतदर्थ सेवा निवृत्ति पश्चात् विचारणा के क्षीर सागर से मथकर चतुर्दश भास्वित रत्न रूप चतुर्दश खण्डकाव्यों (एकादश मौलिक+त्रय अनुदित) का प्रणयन किया।

कूट शब्द – ऋषियों, वैश्विक, अस्मिता, प्रणयांजलि, कारुण्य।

प्रस्तावना –

भारतीय सांस्कृतिक धरातल का यथार्थवादी साहित्य के रूप सर्वमान्य तथा भारत-भारती-संस्कृत-संस्कृति का उद्घोषक खण्डकाव्य है, जो पश्चात्वर्ती कवियों, शोधार्थियों, भारतीय

संस्कृति के समुपासक अध्येताओं के लिये कवि का अपूर्व सांस्कृतिक अवदान है। संस्कृति शब्द का भावार्थ बहुत ही विशद् और व्यापक है, यह मानव समाज की उस स्थिति का बोध करता है, जिससे उसे सभ्य कहा जाता है। किसी समाज देश अथवा राष्ट्र में निवास करने वाले मानव समुदाय के धर्म-दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, क्रिया-कलाप, रीति-रिवाज, खान-पान, वेशभूषा, आदि आदर्श संस्कारों के सामंजस्य को ही संस्कृति कहा जाता है। वस्तुतः मानव की मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं कलात्मक जीवन की उपलब्धियों की समग्रता ही संस्कृति है।

सांस्कृतिक अवदान –

संस्कृति का अर्थ –

सम्+कृ+क्तिन् से निर्मित संस्कृति शब्द का अर्थ है, उत्तम प्रकार के कार्य, सुधरी हुयी दशा आदि दूसरे शब्दों में, मानव की बाह्य एवं आन्तरिक स्थितियों के सुसंस्कृत या परिष्कृत समूह को ही संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति का सम्बन्ध मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है। हम यह भी कह सकते हैं कि किसी भी व्यक्ति द्वारा जाति, समाज और राष्ट्र के सामाजिक मूल्यों परम्पराओं एवं आदर्शों के समुचित निर्वाह के लिये की जाने वाली चेष्टायें, भावनायें, परम्परायें, कल्पनायें आदर्श आदि संस्कृति कहलाती है।

संस्कृति की परिभाषा –

छान्दोग्योपनिषद् में समाज के सम्भेदों को संघटित करने का हेतु संस्कृति को ही बताया गया है।

“सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय”।¹

श्री राजगोपालाचार्य के मत में – “किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्टपुरुषों में विचार वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है। डॉ. कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के अनुसार “संस्कृति जीवन की उन अवस्थाओं का नाम है, जो मनुष्य के अन्दर व्यवहार, ज्ञान और विवेक पैदा करती है। वह मनुष्य के व्यवहारों को सुनिश्चित करती है, उनकी संस्थाओं को संचालित करती है, उनके साहित्य और भाषा को बनाती है, उनके जीवन के आदर्श और सिद्धान्तों को प्रकाश देती है।”

डॉ. राधाकृष्णन का कथन है कि “विवेक और बुद्धि के द्वारा जीवन को भली प्रकार से जान लेना ही संस्कृति है।”

इस प्रकार जिस जीवन पद्धति से आत्मा सुसंस्कृति होकर पूर्ण विकसित हो और उसके अन्तस् से राग द्वेष, मोह-मत्सर, आदि विकार निर्मूल होकर सम्पूर्ण गुण सम्पन्न एवं प्रकाशमय हो वह संस्कृति है।²

(क) सम्यग्-दृष्टि सम्यग्-चरित्र संस्कृति –

कहा जाता है कि “यथादृष्टि तथासृष्टि” अर्थात् जैसी दृष्टि होती है वैसी ही प्रतीति होती है। सौन्दर्य लीलामृतम् जो कवि की प्रथम कृति है, जिसमें सौन्दर्यकामी जनों को, सौन्दर्य के शाश्वत स्वरूप से परिचय करवाते हुये भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि को प्रकाशित किया गया है –

सौन्दर्यं शिव सत्य भाव सुमगं यत्कल्पितं सूरिभिः,
जातं तन्नवजात दुषितधियां दुर्वोधनैर्गर्हितम्।
येनैषा वितताऽपकीर्तिलघुता शृंगार भावे धुना,
सानो संलभतां कदापि ललिते काव्ये पदं मामके।।³

अर्थात् जिस सौन्दर्य को हमारे ऋषियों ने शिव और सत्य के साथ जोड़ा था। आज वह दूषितमतिकों से निन्दित हो गया है। जिसके कारण शृंगार भाव में अपकीर्ति की लघुता आ गयी है। हे भगवति! वह लघुता मेरे काव्य में प्रवेश न करें।

सौन्दर्य चर्म राग नहीं, ना ही वह अंगों की भंगिमा पर आश्रित रहने वाला है, वह तो सत्यं शिवम् सुन्दरम् की सदाशयता पर प्रतिष्ठित तथा सम्यग्-दृष्टि, सम्यग्-चरित्र की चेतना से प्रवाहित होने वाला भाव है, जिसे आध्यात्मिक प्रज्ञा से साक्षात्कार किया जा सकता है –

सौन्दर्यं नहि चर्मराग निहितं नो वाङ्मङ्गयाश्रितम्,
कस्यापि प्रति भाति गौर वनिता यूनो मनोहारिणी।
कृष्णाकुर्विचत कुन्तलापि सुभगा कस्मैचिदाश्लिष्यति,
लावण्य ललना गतं तु मनसो मानेन वै मीयते।।⁴

विलास वृत्ति में लगे हुये लोगों की मूर्खता तथा नग्न गौरवनिताओं को देखकर मन ही मन मचलते हुये, जल क्रीडारत, विलासीजनों को सांस्कृतिक दृष्टि दिखाते हुये कह रहे है, कि विलासी

जनों! तुम लोग समुद्र की लहरों के विलास को ही देखते हो, उसके गाम्भीर्य की ओर दृष्टि क्यों नहीं डालते।

पश्यैते चल यौवनोन्मदजुषो मूढाविलासे रताः,
 सोत्कण्ठं जल केलि कर्म निरतान् पश्यन्ति गौरानिमान्।
 नग्नाश्चापि विलोक्य गौरवनिता रत्युत्सवं मन्यते,
 गाम्भीर्यं न विलोकयन्ति जलधे र्वीची विलासेरताः।।⁵

प्राच्य भारतीय संस्कृति में गुरुकुल व्यवस्था हुआ करती थी, जहाँ गुरु अपने शिष्यों को जीवन दृष्टि दिया करते थे, जिससे समाज में मर्यादा की प्रतिष्ठापना हुआ करती थी किन्तु पाश्चात्य संस्कृति प्रभावित युवकों में इसका अभाव होने के कारण ही वे पूर्ण पथ को भूल कर अमर्यादित वासना के चक्कर में भटक रहे हैं। इस पीड़ा को कवि ने इस प्रकार वर्णित किया है।

यद ज्ञानं गुरुकुलावासे यत्नतो लभ्यते जनैः।⁶
 रागोपगूढा निकरे निगूढा, भोगावलीढाः, गुरुभक्तयपोढा।
 विस्मृत्य हा! पूर्ण पथं विमूढा तुच्छे विमुग्धाः विचरन्त्यनूढाः ।।⁷

(ख) आत्मोन्मुखी संस्कृति –

विश्वगुरु भारत की वैश्विक पहचान आत्मोन्मुखी संस्कृति से रही है। यह संस्कृति मानसिक विकास पर अधिक बल देती है। रोम मिश्र आदि की प्राचीन संस्कृति में इसका अधूरापन दिखता है। इसलिये संस्कृतियाँ काल की कसौटी पर सच्ची न उतर सकी व आज केवल स्मर्तव्य ही शेष है। यूरोप ने भी आत्मिक शक्ति को पहचानना नहीं सीखा उन्होंने भौतिक चकाचौंध को ही संस्कृति कहा जो आत्मवंचना से अधिक कुछ नहीं है। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति इस कसौटी पर साथर्क सिद्ध होती है। जिसका उल्लेख भी श्री दवे के खण्डकाव्यों में सर्वत्र समाहित है –

कवि का मानना है कि आज की शिक्षा संस्कृति, जीवन पद्धति, खान-पान, अभिवादन, भाषा, सेवा और शासन आदि पाश्चात्य पद्धति के अनुसरण का प्रतिफल है, जो उन्हें आत्मोन्मुखी नहीं होने देती :

शिक्षा संस्कृति जीवनोत्सव विधौ खाद्येऽभिवादे यथा,
 भाषा भाषण भूषणे भृति पदे संकल्पिते शासने।

पाश्चात्यां सरणिं मुदाऽनु चरतां संकोचलेशोचलेशोऽपिनो,

चित्ते विश्वगुरुत्व गौरव कथा स्वीया न संस्मर्यते ॥⁸

कवि आत्मोन्मुखी संस्कृति की थाती देववाणी में गुम्फित शास्त्रों को ही मानते हैं, जो भगवत् कृपा से प्राप्य है, चाहे वह विश्ववन्द्य पाणिनी का शब्द शास्त्र हो,⁹ या पतंजलि का योग सूत्र, अथवा साहित्य शास्त्र हो सभी आत्मानन्द के तरंगों से मण्डित है, जिसके कारण मनुष्य के समस्त संकल्प विकल्प एकान्त में नन्दित होकर आत्मानन्द में रमण करते हैं –

मुनीनां सिद्धानां तपसि निरतानामपिवने,

स्थितिना संविष्टा हृदिकथमये! हंस विधिना ।

विकल्पं संकल्पं सकलमपि हित्वा च रहसि,

भजन्ते येनैते परममुद मात्मन्यभिरताः ॥¹⁰

शिष्यों में श्रद्धा गुरुओं में गुरुता, विद्वानों में प्रज्ञा, कवियों में प्रतिभा आदि को ईश्वरीय कृपा का फल मानते हैं। जैसा कि अघोलिखित श्लोक में वर्णित है –

(ग) नारीश्रद्धा संस्कृति –

भारतीय संस्कृति में नारी को नारायणी और कल्याणी के रूप में अभिमण्डित किया गया है, तथा उसे श्रद्धा विश्वास रुपिणी भी कहा गया है। वह आध्यात्म चेतनादात्री, बुद्धि की अधिष्ठात्री और शान्ति की पुनीत मूर्ति के रूप में नर की सबसे बड़ी शक्ति स्वीकार की गयी है। उसने महापुरुषों को जन्म दिया है तथा पुरुषों को महापुरुष बनाया है। उसने अपने सतीत्व से यमराज को भी विवश किया है, तो इस ने समरांगण में रणचण्डी का रौद्र रूप भी दिखाया है। कहीं राष्ट्रीय अस्मिता के लिये अपने हाथों अपना शीश अपर्ण तो कहीं जोहर की ज्वाला में सशरीर समर्पण से शुचिता के इतिहास को दर्पण दिखलाया है।

कभी पुत्री बहिन, ननद, बुआ के रूप में पितृकुल का धर्म निभाया, तो कभी पतिगृह की विभिन्न उपाधियों के मर्म से श्रद्धेय स्थान पाया है। इस प्रकार सनातन संस्कृति की धुरी, गृहस्थाश्रम की आधारशीला, शीलवसना, भगिनी, गृहिणी, जननी स्वरुपा नारी की प्रतिष्ठा को, भारतीय लेखनी ने नारी श्रद्धा संस्कृति के आलोक में यथावसर सर्वत्र प्रतिष्ठित किया है।

शक्ति के उपासक पं. दवे ने भी उक्त परम्परा को प्रवाहित किया है, और अपने खण्ड काव्यों में यथा योग्य स्थान दिया है। अनुसंधेय काव्यों में नारी के तीन रूपों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे प्रथम मातृरूपा, द्वितीय गृहिणीरूपा, तृतीया आधुनिकारूपा है। स्त्री का प्रथम एवं द्वितीय रूप भारतीय संस्कृति की थाती है, तो तृतीय रूप पाश्चात्य संस्कृति की अनुगामिनी है। उक्त तीनों रूप एवं दोनों परिधियाँ नारीश्रद्धा संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में समीक्ष्य है, जो कवि के खण्डकाव्यों का सांस्कृतिक अवदान सिद्ध करता है।

(i) मातृरूपा नारी श्रद्धा संस्कृति –

“मातृदेवो भव”, “मातृवत् परदारेषु” का संस्कार देने वाली भारतीय संस्कृति में नारी की विविध उपाधियों में सर्वाधिक श्रद्धेय मातृरूप है। मातृभक्त पं. दवे ने अपने खण्ड काव्य कारुण्य कादम्बिनी में जो जननी विषयक संस्कृति का बोध कराया है, वो नारी श्रद्धा की पराकाष्ठा है। वस्तुतः माँ का जीवन संतति के लिये समर्पित होता है।

इसलिए सन्तति से भी अपेक्षा की जाती है कि मां की उपेक्षा न हो। मां का जीवन कैसा होता है ? इसका मार्मिक वर्णन कारुण्य कादम्बिनी के इस श्लोक में देखिये :

शीतेकन्था वृत कृशतनुः कम्बलैश्छादयन्ती,

ग्रीष्मेस्विन्ना व्यंजन धुनितैर्नामुदाबीजयन्ती।

शुष्कैर्भोज्यैरुदर भरिणी चात्मो नः कवोष्णैः,

नो जाने सा कति कति रुजोऽस्मत कृते हा प्रसेहे।¹¹

(ii) गृहिणीरूपा नारी –

जीवन कौशल प्रबन्धन की कसौटी गृहिणी रूपा नारी है, जो ‘गृहिणीगृहमुच्यते’ की संकल्पना को साकार करती है। नवीन बन्धनों में बन्धती हुयी, गृहस्थाश्रम की ऋषि परिकल्पना को सार्थकता प्रदान करती हुयी, भारतीय संस्कृति के ध्वज को उन्नत करती है, तथा स्वयं के लिये श्रद्धेय स्थान सुनिश्चित करती है। गृहस्थ धर्मी कवि पं. दवे की लेखनी ने गृहिणी के चरित्र को चारुता दी है, उनके खण्ड काव्य वियोगशतकम् में तो गृहिणी का उज्ज्वल स्वरूप ही प्रस्तुत किया गया है, जो नारी श्रद्धा संस्कृति को सहज आधार देता है। किसी अज्ञात विद्वान ने सत्य कहा है – “व्यक्ति के चले जाने पर ही उसकी उपयोगिता का भान होता है।” कवि के मित्र की पत्नी का स्वर्गवास हो जाता है। वो पत्नी वियोग में व्यथित है, तथा गृहिणी रूपा नारी का सुचिन्तन करता हुआ, गृहिणी का सत्य-तथ्य अपने कथ्य में

प्रस्तुत करता है – हे प्रिया! तुम्हारे वियोग में ये घर श्री हीन गया है, और मैं स्पन्दन हीन हो गया हूँ। फलस्वरूप तुम्हारे प्रेम पीयूष वृष्टि का पान करने वाली इन आंखों से श्रद्धा रूपी अश्रु की वृष्टि करता हुआ शोक प्रकट कर रहा हूँ।¹²

हे प्रिये! जब तुम हमारे घर की गृहिणी बनी उस समय दुल्हन के रूप में, तुम हमारे हृदय की खिली-कली सी लगती थी, तुम प्रणय वल्लरी सी हमारे गृहवाटिका की शोभी थी।¹³ कथन के द्वारा कवि ने गृहिणी रूपा नारी को गृह वाटिका की शोभा के रूप में प्रतिष्ठा दी है।

हे प्रिये! तुम्हारे साथ व्यतीत किये गये अवधि में, अर्थाभाव के विषाद में भी, तुमने अतिथि सत्कार में नीरसता नहीं आने दी, तुम्हारे मुख पर कुन्द-पुष्प सी मधुर हंसी बनी रहती थी।

आतिथ्यं नो विगलित रसं नापि दाने विषादः।

दैन्येऽप्यासीन्तवतुवदने मत्प्रियं कुन्दहास्यम्।।¹⁴

वस्तुतः प्रसन्नतापूर्वक अतिथि सत्कार का भाव ही गृहिणियों को समाज में आदरणीय स्थान देता है। कवि गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुये कहते हैं, कि गुरुजनों द्वारा समस्त बन्धु-बान्धवों के समक्ष गृहस्थ-मानसरोवर में प्ररोपित दाम्पत्य नेहलता में जो सुगन्ध है। वह काम भावना से विकसित एकान्त में रोपित वासना मूलक प्रेयसी के प्रेम-पुष्पों में नहीं होता –

कौमारांके गुरुजन करै: रोपितो बन्धु साक्ष्ये,

दाम्पत्याब्जे परिमल मुदा मानसे गुह्यके या।

सा नो लभ्या मदन विकचे वासना वद्ध मूले,

चाल्पप्राणे रहसि कलिते प्रेयसी प्रेमपुष्पे।।¹⁵

(iii) आधुनिका नारी –

पाश्चात्य संस्कृति की प्रतिकृति, मेकाले की मानस पुत्रियाँ, स्वच्छन्दचारिणी, युग्धर्मानुरागिनी नारियों की भारतीय संस्कृति में प्रतिष्ठा नहीं है, ऐसी नारियों को नारी-आदर्श का विघातक कहा है। कवि स्पष्ट शब्दों में कहना चाहते हैं कि स्त्रियों का स्वच्छन्द विचरण करना शोभा नहीं देता।

“स्वच्छन्दाचरणं स्त्रियाँच सततं लोके न शोभावहम्”¹⁶

ऐसी युवतियाँ विवाह के बन्धन में भी नहीं बन्धना चाहती हैं, क्योंकि इनके अनुसार विवाह में हाथ मिलना ही जीवन में विपत्तियों को बुलाना है। एक ओर सास का आतंक, दूसरी ओर पति का कठोर शासन, उसके साथ हर रोज चुल्हा, झाड़ू-बुहारी की मुसीबतों से शरीर को क्षीण करना इस सबसे तो कुवारापन ही अच्छा है –

उद्वाहे कर बन्धनं तु विपदामामन्त्रणं जीवने,
 भर्तृशासन पालने नियमनम् श्वश्रुजनातड्कितम्।
 चुल्ली सेवन मार्जनादि विषमैः काये क्षयावाहनम्,
 भीमं यौतुक संकटं तु सुखदं निर्भर्तृकं जीवनम्।।¹⁷

ये पाश्चात्य-दृष्टि वाली अत्याधुनिका नारी अपनी संस्कृति को तिलांजलि देती हुयी सी, पाश्चात्य प्रणय देवता वेलेन्टाइन्स¹⁸ को प्रणयांजलि समर्पित करती है तथा उसी के उत्सव को मदनोत्सव मान प्रयत्नशील रहती है। ऐसी स्त्रियों को कवि ने अमर्यादित शब्दों से सम्बोधित किया है। उन के लिये अश्वानना, चंचल-नितम्बा, युवक-संसर्ग-तृषिता, उद्दीप्त-कन्दर्पा, अधोवसना आदि शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि ने आधुनिक संस्कृति के अन्धानुकरण का वैचारिक विरोध के लिये किया है।

उन्मुक्त कामा-फिरंगी वाम का कन्दर्प कौतुक देखकर ऐसी पाश्चात्य अन्धानुगामिनी वृत्ति-प्रवृत्ति से कवि व्यथित है। सललज्जशीला का निर्लज्ज रूप देखकर मौन है, कन्दर्प कामा फिरंगी वामा का सागर तटीय उन्मुक्त केलि कौतुक से हत प्रभ है –

उन्मुक्त कामा फिरंगी वामा पयोधिपांसौ लुढन्त्यः।

कान्तोपगूढाः सलिलं विशन्त्यः प्रपश्यतां कौतुकमावहन्ति।।¹⁹

ये अधुनातना-स्त्री युग्चातुर्य को जानने वाली होती है। वे भारतीय संस्कृति को तुच्छ मानती है, उनका मानना है कि नवाचार से अनभिज्ञ पंडित भी मूर्ख के समान ही होते हैं। यहाँ नवाचार आदर्श है। सदाचार नहीं, कामाचार धर्म है, गृहस्थोपचार नहीं।

“नवाचार अनभिज्ञत्वात् पण्डितोऽपि जडोमतः।

नाग्रंजी पठिता चेति स्त्रीरत्नेनास्मि वञ्चित।।²⁰

कवि स्वच्छन्द विहारिणी स्त्री की प्रकृति का वर्णन करते हुये कह रहे हैं, कि ये पाश्चात्य प्रभाविता युवतियाँ कुलटा प्रकृति की होती हैं। ये क्रूर कुटिल कुट्टिनियाँ पुरुषों के भोले-भाले मन को अपनी ओर खींचती हैं। विषलताओं से अपनी भुज-लताओं में आबद्ध कर लेती हैं, कदाचित् प्राण भी हरण कर लेती हैं।

कुट्टिन्यः कुटिलाः क्रूराः हत्वा मुग्धं मनोनृणाम्।

हरन्ति विषवल्लर्यः प्राणानाश्लेष बन्धने ॥²¹

भक्ति और शक्ति के इस देश में, जहाँ शील स्त्रियों का आभूषण हुआ करता है। जहाँ स्त्रियों की सौम्यता से संस्कृति सुरक्षित है। परिवार अखण्डित है। त्याग और ममता के कारण वह पूजित है। वहीं आधुनिक शिक्षा शिक्षिता का नवाचार व्यवहार नव विज्ञानयुग का नहीं विज्ञापन युग का हो गया है।

उनका शरीर विज्ञापन का वस्तुविशेष हो गया है, उनका विवाह भी विज्ञापन आधारित शर्तों के अन्तर्गत हो रहा है। कवि ने भारतीय संस्कृति नाशक, स्त्री-मर्यादा विनाशक पीड़ा का वर्णन युग्बोध के लिये केलिभूकैतवम् के तृतीय सौपान में किया है। जहाँ आधुनिक विज्ञापन के माध्यम से पारम्परिक सप्तपदी को कालातीत मानती हुयी, आधुनिक युगीन²¹ सप्तपदी की शर्तों पर विवाह के लिये सहमत होती है।

(घ) गोसेवा संस्कृति –

सनातन जीवन पद्धति ही मानव जीवन जीने का विज्ञान है। यही भारतीय अस्मिता की पहचान है। यह प्राकृतिक नीति के आधार पर निर्मित है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त मानव वरदानों में गौवंश सर्वोपरि है। जिसे निगमागमों में “मातरः सर्वभूतानां” कहा गया है। गौमाता से ही मानव जगत् को ऋषि और कृषि की प्राप्ति हुयी है, जिसका प्रमाण विज्ञान और वैदिक शोध ग्रन्थों में प्राप्य है। गो माताओं की शारीरिक संरचना में, ऐसे दिव्य और अतिसूक्ष्म यंत्रों को स्थापित किया गया है, जो ब्रह्माण्ड का संरक्षण और संतुलन बनाये रखने में सक्षम है। उसके शरीर से जीवन दायिनी दिव्य ऊर्जा का सतत् प्रवाह होता रहता है।

इस प्रवाह से वानस्पतिक एवं जैविक सम्पदा को पुष्टि तथा मानव मस्तिष्क को संरक्षण मिलता है। अतः समय-समय पर सदसाहित्यों के माध्यम से गौवंश की महत्ता, उपयोगिता तथा उपादेयता को उजागर किया जाता रहा है। समीक्ष्य खण्ड काव्य के माध्यम से संदर्भित धेन्वानुरागी कवि ने भी, गोचारण, गोपालन, गोसंवर्धन और गोसंरक्षण की श्लाघनीय संस्तुति की है, जो सांस्कृतिक अवदान के रूप में सर्वग्राह्य है।

भारतीय सांस्कृतिक के साधक इस आधुनिक कवि ने सार्वकालिक—आधुनिक विषय “गो माता” की करुण क्रन्दना को कवि संवेदना से अनुभव किया, और कामधेनु वंशजा की करुणा को “कामधेनुशतकम्” के नाम से काव्यबद्ध किया ।

गो की एतिहासिक पृष्ठभूमि को प्रारम्भ करते हुये कवि का कहना है कि, जिस कामधेनु की कृपा से मुनि वशिष्ठ को ब्रह्मशक्ति प्राप्त हुयी, विश्वामित्र की कामनायें पूर्ण हुयी, राजा सौदास को गोत्वज्ञान हुआ, जिस की पुत्री नन्दनी की सदाशयता से रधु जैसे प्रतापी राजा का उदय हुआ, जिसकी सेवा से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, जिसके हव्य—गव्य से देवताओं को तृप्ति मिलती है। जो आधुनिक समय में भी सर्वहितकारिणी है।²²

वहीं गोवंश निजधर्म संस्कृति का मूल है, जैसा कि पं. दवे ने वेद प्रमाण को अपने शब्दों में कहा है :

धर्मस्य मूलं गणिताहि गावः ता एव मूलं निज संस्कृतेश्च ।

सर्वेऽपि देवा वपुषि प्रातिष्ठाः इति श्रुतौ नो भणितं हि तस्याः ।।²³

यही गौ माता दूध दही और धी से घर को मंगलमयी बनाती है, अपने गोबर और गोमुत्र से घर को पवित्र करती है, अनेक रोगों को अपहृत करती है तथा यह सम्पूर्ण सम्पदाओं का सूत्र मानी जाती है।²⁴

कवि का मानना है कि इसके शरीर में सभी देवता निवास करते हैं, इसकी पूजा से सारी विपदायें नष्ट हो जाती हैं, इसके दर्शन से पाप नष्ट होते हैं। भगवान कृष्ण की प्रिया यह गो माता वस्तुतः पूजनीय है।

वपुषिदेवगणो वसति ।²⁵

संसार का उपकार करने वाली, जनपोषयित्री, समस्त पाप प्रणाशिनी, जिसका भारतीय पुराणों ने यशगान किया है, धन सम्पत्ति देने वाली धरा सी पवित्र, मानव को मुक्ति देने वाली तीर्थ स्वरुपा, कामधेनु आज इस घरा पर संकटग्रस्त है, और वह अपने प्राणों की रक्षा के लिये करुण क्रन्दन कर रही है —

विश्वोपकर्त्री जनपोषयित्री, स्वाहा वषट् कारहविर्विधात्री ।

मूलंच लक्ष्म्याः दुरितापहन्त्री सा नन्दनी क्रन्दति साम्प्रतं हा ।।

पुराणगीता वसुदा धरित्री तीर्थस्वरुपा जनमुक्तिदात्री ।

देवधिवासा जगतो हितैषिणी सीदत्यहो सा भुवि कामधेनुः ।।²⁶

कवि ने राष्ट्र नायकों से गोवंश सुरक्षा की गुहार लगायी है। गो हत्या बन्द करने का संकल्प लेने वाले हे पण्डित मालवीय! हे राष्ट्रपिता! हे रघुवंशी, हे गोपाल! हे वृषभध्वज, हे देव! क्षीर सागर की सम्पदा कामधेनुएँ क्यों बधिकों के बन्धन में है। मात्र अर्थोपार्जन का लक्ष्य रखने वाले दुष्ट राक्षस नहीं जानते कि ऐसा करने पर हमारी देशीगायों का वंश नष्ट हो जायेगा। स्वयं की अनेक हितकारिणी सम्पदा नष्ट हो जायेगी।

दितिजा इव दुष्टमनसाः अर्थोपार्जनमात्रबुद्धयः।

हतका न हि जानतेऽनया कुलमेवाद्यं विहन्यते धिया।।²⁷

कवि शासनाध्यक्षों एवं धर्मरक्षकों को गोहत्या की दशा-दिशा दिखाते हुये स्पष्ट शब्दों में कहना चाहते हैं, कि यदि देश की यही दशा रही, तो इस धरा पर व्याप्त पाप कौन मिटायेगा। भारतीय संस्कृति को कौन जीवित रखेगा, आस्था अक्षुण्ण रहे की व्यवस्था कौन करेगा।

(ड) प्रकृति संरक्षण संस्कृति –

भारतीय संस्कृति प्रकृति को ही अपना सर्वस्व मानती है। वह प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को देवता का अंश ही मानती है तथा नदी, वन, पर्वत, अग्नि आदि को साक्षात् देव शब्द से अभिहित करती है। प्रकृति से तात्पर्य उस वस्तु है जो मानव निर्मित नहीं है, स्वयं भू है, मानव की सहचारिणी है। मानवीय अनिवार्य आवश्यकताओं की साधिका है। वही नैसर्गिक अभिराम की शाश्वत सत्ता भी है। चार आश्रमों में से तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम की परिकल्पना प्रकृति के गोद में ही की गयी है। इसे आध्यात्मिक चेतना के लिये श्रेष्ठ माना गया है। सनातन धर्म के आराध्य देवों ने अपना आवास, शान्त एकान्त, दुर्गम प्रकृति के मध्य में ही प्रतिष्ठापित किया है, ताकि मानवों को प्रकृति की महत्ता, उसके दूरगामी परिणाम, अमरता, आदि का भान हो सके। वस्तुतः जीवन की जीवन्तता के लिये प्रकृति संरक्षण की संस्कृति का प्रसार अनिवार्य है।

पं. श्रीराम दवे के खण्ड काव्यों में प्रकृति संरक्षण के सुचिन्तन की सुदृष्टि परिलक्षित है। ध्यातव्य है कि विकास की अन्धी दौड़ ने आज प्रकृति का स्वरूप ही बदल डाला है। मानव ने प्रकृति का मन चाहा दोहन किया है। अतः पौराणिक तथा आधुनिक कवियों ने अपने-अपने कालजयी साहित्यों के माध्यम से मानव को ही आत्म मन्थन के लिये प्रबोधित किया है। पं. दवे ने ललितालहरी नामक काव्य में शैलवासिनी भगवती ललिता की भक्ति में मन्दिरपरिसर के नयनाभिराम प्राकृतिक दृश्य को उपस्थापित किया है। ग्राम समदड़ी में लूणीसरिता के कूल पर पहाड़ी की कन्दरा में भगवती ललिता अपने परिवार के साथ विराजमान है। इस शिखरिणी स्थित कन्दराओं की गोद में सिंहशावक निर्भयता से खेला करते हैं तथा अन्य वन्य पशु भी यहाँ लहलहाते वृक्षों के नीचे विश्राम पाते हैं। यहाँ परस्पर वैर भाव रखने वाले

सिंह, हरिण, खरगोश आदि प्राणी भी निर्वैरभाव से विचरण किया करते हैं। पुष्परस पान करने वाले भौरों का झुण्ड भी यहाँ चारों ओर धूमता दिखाई पड़ता है –

गुहाङ्कें सिंहानामभयमिह खेलन्ति शिशवः,

वसन्त्यन्ये वन्याः श्रित वितपमूला अपि पदे ।

चरन्त्यत्रा भीता हरि मृगशशा वैर—विधुराः,

अलीनां संधातो भ्रमति मधुलुब्धश्च परितः ।।²⁸

कवि उक्त पद्य के माध्यम से प्रकृति की सौम्यतासंस्कृति को उद्घाटित करते हुये सर्व सामान्य को बताना चाह रहे हैं, कि प्रकृति का सौम्य वातावरण वैरभाव वाले प्राणियों में भी “संगच्छध्वं संवदध्वं” का संस्कार ला देती है। सांसारिक प्राणियों में आपसी वैर की प्रकृति, प्रकृति के अतिशय दोहन का ही परिणाम है। अतः प्रकृति की संस्कृति से सद्भाव प्राप्त करना चाहिए।

निष्कर्ष –

इस प्रकार पं. दवे ने खण्डकाव्यों में, सनातन संस्कृति के हास की चिन्ता झलकती है। भौतिक विकास की सीढियाँ चढ़कर भले ही मानव ने मंगल गृह को खोज लिया हो, किन्तु उसके जीवन में मंगल हो, इसके लिये सनातन संस्कृति के शाश्वत् मूल्यों का अनुपालन तथा संवर्धन का सतत् प्रयास आवश्यक है। क्योंकि परिवार टूट रहे हैं। मातायें वृद्धाश्रम में स्थापित हैं। गो सेवा का स्थान श्वानसेवा ने ले लिया है। मन्त्री गण विलासोन्मुख हो रहे हैं। तरुणगण स्वच्छन्दता के पक्षधर होते जा रहे हैं। सेवकगण उत्कोचप्रिय होते जा रहे हैं। स्वार्थ नैतिक धर्म बनता जा रहा है। अतः विश्वगुरुभारत की स्थायीसम्पदा सनातन संस्कृति के आलोक में भरतपुत्रों के समक्ष लाना, तथा सम्पूर्ण विश्व को मानवीय संस्कृति से परिचय करना, ही कवि का उद्देश्य तथा उनके खण्डकाव्यों का सांस्कृतिक अवदान है। जिससे अध्येता, शोधार्थी, समीक्षक तथा संस्कृतानुरागी जन सद्यः उपकृत होंगे।

सन्दर्भ –

1. छान्दोग्योपनिषद् – 8 | 4 | 1
2. प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूल तत्व – पृ.सं. – 2
3. सौन्दर्यलीलामृतम् – श्लोक सं. – 3
4. वही – श्लोक सं. – 8
5. वही – वैराग्यसंवेदना – श्लोक सं. – 2
6. कालकौतुकम् – तन्त्रकौतुकम् श्लोक सं. – 14
7. वही – श्लोक सं. – 6
8. वही – कालाय तस्मै नमः श्लोक – 18
9. भारती विलास – श्लोक – 6
10. वही – श्लोक सं. – 14
11. कारुण्यकादम्बिनी – श्लोक सं. – 36
12. वियोगशतकम् – श्लोक सं. – 15
13. वही – श्लोक सं. – 24
14. वही – श्लोक सं. – 25
15. वही – श्लोक सं. – 26
16. सौन्दर्यलीलामृतम् – श्लोक सं. – 12
17. वही – श्लोक सं. – 14
18. कालकौतुकम् – कालाय तस्मै नमः – श्लोक सं. – 17,
“वेल्टाइन्स विभाविंत प्रणयिदं सम्भावयन्त्युसवम्”
19. सौन्दर्यलीलामृतं – श्लोक सं. – 37

20. केलीभूकेवकम् – श्लोक सं. – 2/12
21. वही – श्लोक सं. – 3/26–35
22. कामधेनुशतकम् – श्लोक सं. – 1/25
23. वही – जयति पथमेडा अवनीतलम् – श्लोक सं. – 27
24. वही – श्लोक सं. – 33
25. वही – श्लोक सं. – 34
26. वही – सा नन्दनी क्रन्दयति – श्लोक सं. – 71–72
27. कामधेनुशतकम् – सा नन्दनी क्रन्दयति – श्लोक सं. – 95
28. ललितालहरी – श्लोक सं. – 2